इस्लाम और इंसानी हुक़ूक़

क़ाएदे मिल्लत मौलाना सै० कल्बे जवाद नक़वी, जनरल सेक्रेट्री मजलिस उलमा-ए-हिन्द
अनुवादकः सैय्यद सुफ़यान अहमद नदवी

(22)

इस्लाम के बदला लेने के क़ानून और सख़्त सज़ाओं के सिलसिले में बड़े एतेराज़ात हैं और कुछ तरक़्क़ी पसंद मुसलमान भी इस मसले पर मुँह खोलते नज़र आते हैं। इनकी नज़र में यह सख़्त सज़ाएँ इन्सानियत के ख़िलाफ़ हैं और इन्सानी हुक़ूक़ की पामाली करने की तरह हैं। ऐसे हज़रात इस्लाम की बुनियादी तालीम और उसकी बहुत बड़ी हक़ीक़त या शायद सब से बड़ी हक़ीक़त से ग़ाफ़िल हैं और वह यह कि हम इस मौजूदा दुनिया के लिए जिसमें हम जी रहे हैं, पैदा नहीं किए गए हैं, बल्कि वक़्ती तौर पर भेज दिये गए हैं। हमारा वतन कहीं और है। हमें जाना कहीं और है और हम ख़ल्क़ कहीं और के लिए किए गए हैं। वह ज़िंदगी और दुनिया इस ज़िंदगी और दुनिया के बाद है। एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हूमी है, जिसमें हम सब मुब्तला हैं कि जब भी हम से पूछा जाता है कि हमारा वतन कहाँ है तो अगर मुल्क से बाहर सवाल होता है तो हम अपने मुल्क का नाम लेते हैं, मसलन हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, ईरान वग़ैरा और अगर मुल्क के अंदर सवाल होता है तो हम किसी शहर या गाँव का नाम लेते हैं, मैं तो समझता हूँ कि यही हमारी सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी है कि हम मुसाफ़िरख़ाने को अपना वतन बताया करते हैं। सारी दौड़धूप, सारी कोशिश, सारी धोका-धड़ी सिर्फ़ इसलिए कि हम मौजूदा दुनिया को अपना वतन समझ रहे हैं। इसीलिए भरपूर कोशिश है कि सब कुछ यहीं मिल जाए। ईमानदारी से न मिल सके तो बेईमानी से, शराफ़त से न मिल सके तो ग़ैर शरीफ़ाना तरीक़ों से, आसानी से न मिल सके तो ज़ोर ज़बरदस्ती से। यह सारी छीना-झपटी सिर्फ़ इसलिए कि हम इसी दुनिया को सब कुछ समझ बैठे हैं। अल्लाह तआला सूरए आला में एलान फ़रमा रहा है, मफ़हूमः "तुम दुनियावी ज़िंदगी के पीछे भागे जा रहे हो, जबकि आख़ेरत की ज़िंदगी इस से कहीं बेहतर है और बाक़ी रहने वाली भी है"। (सूरए आला, आयत-16)

हज़रत अली[अ०] का इरशाद है, एक अक़्लमंद ने देखा कि दुनिया भी मेहनत से मिलती और आख़िरत पाने के लिए भी मेहनत करनी पड़ती है, क्योंकि दुनिया भी सिर्फ़ लेटे-लेटे पलंग के बाँध तोड़ने से नहीं मिल जाती। हुसूले दुनिया के लिए सख़्त मेहनत करना पड़ती है। मिसाल के तौर पर एक सियासी लीडर, एम०एल०सी०, एम०एल०ए०, एम०पी० या वज़ारत के ओहदे तक पहुँचने के लिए कितनी मेहनत करना है? उसे कितने पापड़ बेलना पड़ते हैं, तब कहीं जाकर उसे कोई ओहदा मिलता है, जिसका वह नाजाएज़ फ़ायदा उठाकर बेतहाशा कमाता है। (यह बात मैंने सिर्फ़ मिसाल की ग़रज़ से की है) इसी तरह से आख़िरत भी बग़ैर मेहनत और क़ुर्बानी के नहीं मिलती। सिर्फ़ सुबह की दो रकात नमाज़ पढ़ने के लिए किस क़दर ज़बरदस्त क़ुव्वते इरादी की ज़रूरत होती है, जब सुबह का ठण्डा-ठण्डा मौसम हो, नसीमे सहरी हल्के-हल्के पंखा झल रही हो तो उस वक़्त किसका उठने को दिल चाहता है। अपने ऊपर सख़्त जब्र करना पड़ता है तब जाकर इन्सान नमाज़ पढ़ता है, सर्दियों की मिसाल भी ऐसी ही है कि गर्म-गर्म बिस्तर से

निकल कर वुज़ू करना और मस्जिद की तरफ़ रवाना होने के लिए इन्तेहाई मज़बूत कुव्वते इरादी चाहिए। कारोबार छोड़कर दुकानें बंद करके दफ़्तर छोड़कर ज़ोहर व अस्र की नमाज़ की अदायगी मेहनत की तालिब है। इसी तरह दिन भर की थकावट के बाद मग़रिब व इशा के फ़रीज़े को अदा करना आसान काम नहीं है। हज में सख़्त तरीन मशक़्क़त है, रोज़े भी मेहनत के तलबगार हैं। सबसे बड़ा इम्तेहान ख़ुम्स व ज़कात की अदायगी के वक़्त होता है। एक तरफ़ तो मिज़ाज है कि चमड़ी जाए मगर दमड़ी न जाए, दूसरी तरफ़ ख़ून पसीने की कमाई अल्लाह तआला के हुक्म के मुताबिक़ ख़र्च करना है, जो बड़ी इम्तेहानी मंज़िल है, ख़ुलासा यह कि दुनिया और आख़िरत दोनों के लिए मेहनत करना पड़ती है। न यह आसानी से मिलती है और न वह। जब एक अक़्लमंद ने देखा कि मेहनत दोनों में है तो उसकी अक़्ल ने फ़ैसला किया कि क्यों न मेहनत उस चीज़ के लिए की जाए, जो बाक़ी रहने वाली है और अपनी कुव्वत उस चीज़ के हासिल करने पर बरबाद न की जाए जो ख़त्म हो जाने वाली है।

यह था हज़रत अली[अ०] का इरशाद जिसका मफ़हूम अपनी तौज़ीहात के साथ बयान किया गया। मगर इन तमाम बातों से यह नतीजा न निकाला जाए कि इस्लाम में दुनिया का हुसूल मना है। इस्लाम में तर्के दुनिया हराम व नाजाएज़ है। एलान है कि: *''ला रह्बानियता फ़िल इस्लाम''* रसूलुल्लाह[स०] का इरशाद है कि: ''जिसने दुनिया ले ली और दीन छोड़ दिया वह मुझ से नहीं यानी मेरा मानने वाला नहीं, इसी तरह से जिसने दीन ले लिया और दुनिया छोड़ दी वह भी मुझ से नहीं।''

इस्लाम में एक सच्चे मुसलमान का ताल्लुक़ दीन से भी होता है और दुनिया से भी, मानवियत से भी और माद्दियत से भी, ज़मीन से भी आसमान से भी, ख़ाक से भी और अफ़लाक से भी, फितरत से भी और मा फ़ौक़ुल फ़ितरत से भी, तबीअत से भी और माबादे तबीअत से भी। इस्लाम ने दुनिया को हासिल करने से मना नहीं किया है। अगर ऐसा होता तो क़ुरआन मजीद में हर जगह नमाज़ के तज़किरे के साथ-साथ ज़कात व इन्फ़ाक़ का हुक्म न होता। जब तक कमाएगा नहीं, ज़कात कहाँ से अदा करेगा? हाँ, दुनिया परस्ती मना है, ख़ासतौर से जब दीन और दुनिया में मुक़ाबला हो और हम एक को छोड़ने और दूसरे को इख़्तियार करने पर मजबूर हो जाएं। उस वक़्त समझदारी का तक़ाज़ा यह है कि दुनिया को ठोकर मार कर दीन को इख़्तियार कर लिया जाए, क्योंकि दुनिया वसीला तो बन सकती है हदफ़ नहीं। हम दुनिया के ज़रिए दीन हासिल कर सकते हैं, क्योंकि अगर दौलत न हो तो इन्सान हज की इस्तेताअत हासिल नहीं कर सकता। ख़ैर-ख़ैरात के लिए माल की ज़रूरत है। किसी इबादतगाह को बनवाना है तो दौलत चाहिए, तो दौलत हुसूले दीन व आख़िरत का ज़रिया और आला तो बन सकती है, मक़सद और हदफ़ नहीं हो सकती, इसीलिए अगर कभी दीन व दुनिया में टकराव हो जाए तो हमें दीन को इख़्तियार करना होगा और दुनिया को छोड़ना होगा। इसको मिसाल से यूँ समझा जा सकता है कि हम ने एक सूट सिलवाया जो इंतेहाई क़ीमती है, हमें बहुत पसंद है, लेकिन अगर हम कश्ती पर सवार हैं और कश्ती डूबने लगे। अब हम बीच दरिया में हैं और तैर कर किनारे पर पहुँचना है। अगर हम अब भी अपने उस पसंदीदा सूट से चिमटे रहे तो डूबना यक़ीनी है। सूट पहने-पहने हम तैर नहीं सकते। अपनी जान नहीं बचा सकते। अब कितना बड़ा अहमक़ होगा वह शख़्स जो अब भी सूट को छोड़ने पर तैयार न हो और डूबना क़ुबूल कर ले। उस वक़्त हमें फैसला करना होगा कौन चीज़ ज़्यादा क़ीमती है। जान को बचाने के लिए हमें सूट से छुटकारा हासिल करना ज़रूरी है। बस इसी तरह दुनिया बड़ी ख़ूबसूरत है, बड़ी मेहनत से हासिल होती है। हमारी बहुत पसंदीदा शय है, लेकिन अगर ऐसी सूरतेहाल आ जाए कि दीन बचता है तो दुनिया जाती है और अगर दुनिया बचती है तो दीन जा रहा है। ऐसी सूरत में हमें दीन की ख़ातिर दुनिया को क़ुर्बान करना पड़ेगा, क्योंकि दुनिया फ़ना हो जाने वाली है और दीन के ज़रिए जो आख़िरत मिलेगी वह हमेशा-हमेशा के लिए है।

(बशुक्रिया रोज़नामा 'राष्ट्रीय सहारा' (उर्दू) 18 नवम्बर 2011[ई०])

(23)

जैसा कि पहले बयान हो चुका है कि सूरए बक़रा की आयत नम्बर 179 में क़िसास (बदले) का फ़लसफ़ा बयान किया गया है कि, ''क़िसास तुम्हारे लिए हयात का सबब है'' यानी ज़िंदगी की हिफ़ाज़त के लिए क़िसास का हक़ दिया गया है और इसका मक़सद न तो इंतेक़ाम की प्यास बुझाना है न दुश्मनी और अदावत का ठंडा करना है। किसी ख़ूंख़ार क़ातिल को जिसका दिल रहम के जज़्बे से ख़ाली हो, जिसकी निगाहों में दूसरों के जान और माल, इज़्ज़त और आबरू की कोई क़ीमत न हो, जो ख़ून बहाने में मज़ा महसूस करता है, माफ़ी और रहम के लायक़ क़रार देना ऐसा ही है कि जैसे किसी ख़ूनी भेड़िये को भेड़ों के गल्ले में आज़ाद छोड़ दिया जाए। ऐसे अमल को हर अक़्ल वाला ज़ुल्म ही क़रार देगा। दरिन्दों की आदत रखने वाले इंसानों को वाक़ई सज़ा देना इंसानियत के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि इंसानियत की ज़रूरत और बिल्कुल रहमत है। क़ुरआन मजीद ने क़िसास की आयत में अक़्ल वालों से ख़िताब किया है, जिस से यह नतीजा निकलता है कि ज़ालिम और क़ातिल के लिए रहम का जज़्बा, बिल्कुल ही जज़्बात में बहना और अक़्ल के ख़िलाफ़ है और क़िसास का निज़ाम अक़्ल और समझ के हिसाब से बिल्कुल ठीक है। एक सच्ची अक़्ल यही फ़ैसला करेगी कि क़िसास और सख़्त सज़ाओं से समाज में अम्नो अमान क़ायम हो सकता है और इज्तेमाई ज़िंदगी और अम्नो अमान क़ायम करने के लिए जुर्म के हिसाब से सज़ाएं बेहद ज़रूरी और लाज़िम हैं। क़िसास की आयत का आख़िरी टुकड़ा है, ''ताकि तुम तक़्वे वाले और पाकीज़ा बन जाओ''। यह बहुत ही ख़ूबसूरत इशारा है इस बात की तरफ़ कि क़िसास से समाज को गंदगियों और जुर्मों से पाक करना मक़सद है और मुजरिम से इन्तेक़ाम लेने का इरादा नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि यह बात अहमियत से ख़ाली नहीं है कि पूरे क़ुरआन मजीद में क़िसास का लफ़्ज़ सिर्फ़ चार बार इस्तेमाल हुआ है, जबकि रहमत का लफ़्ज़ और इसी से निकले अलफ़ाज़ 'रहमान' और 'रहीम' पूरे क़ुरआन मजीद में 437 बार इस्तेमाल हुए हैं। इस से यह बात सही साबित हुई कि इस्लाम की बुनियाद ही रहमत पर है और क़िसास भी रहमत ही की एक शक्ल है। जैसा कि पहले इशारा हो चुका कि अगर एक माहिर सर्जन इंसान के किसी कैंसर या नासूर हिस्से को काट कर निकाल दे और पूरे बदन को बचा ले तो इस अमल को कोई भी अक़्ल वाला ज़ुल्म नहीं कहेगा, इसी तरह क़िसास और इस्लामी सज़ाएं ख़ुद मुजरिम के लिए भी और समाज के लिए भी ख़ुदा की रहमत जैसी ही हैं।

इस्लामी सज़ाओं के सिलसिले में जो रिवायतें हैं, वह भी बहुत अहमियत वाली हैं। रसलुल्लाह[स०] का इरशाद है, ''मुजरिम को सज़ा देना चालीस दिन की बारिश से ज़्यादा बेहतर है।'' (वसाएलुश्शीआ, जिल्द-19 पेज-308) हदीस शरीफ़ से साबित होता है कि जिस तरह बारिश रहमत है, उसी तरह से इस्लामी सज़ाएं भी एक तरह की रहमत हैं और जिस तरह से बारिश से गंदगियाँ पाक हो जाती हैं और ज़मीन में पैदावार की सलाहियत पैदा होती है, उसी तरह से इस्लामी सज़ाओं से समाज की गंदगियाँ पाक होती हैं और इंसानी समाज तरक़्क़ी के रास्ते पर चलता रहता है। इस हदीस से साफ़ साबित होता है कि इस्लाम में सज़ाएं ज़ुल्म नहीं, बल्कि रहमत की बारिश हैं। इमाम मूसा काज़िम[अ०] ने क़ुरआन मजीद की आयते करीमा, ''अल्लाह ज़मीन को मुर्दा होने के बाद दोबारा ज़िंदा कर देता है'' की तफ़सीर में इरशाद फ़रमाया कि इस से मुराद है कि अल्लाह तआला ऐसी बुज़ुर्ग शख़सियतों को पैदा करता है जो दुनिया में इंसाफ़ को ज़िंदा करती हैं और इंसाफ़ के ज़िंदा होने से ज़मीन जो मुर्दा हालत में होती है, दोबारा से ज़िंदा हो जाती है। और इसके बाद इरशाद फ़रमाया, ''शरीअत की हदें (इस्लामी सज़ाओं) का लागू होना चालीस दिन की बारिश से ज़्यादा फ़ायदा पहुँचाने वाली हैं'' क़ुरआने करीम की आयत और ऊपर दी गई हदीसों से इस हक़ीक़त का पक्का सुबूत मिलता है कि इस्लाम में सज़ाओं का मक़सद

इंसाफ के तरीक़े को बाक़ी रखना और समाज को गंदगियों से पाक करना है।

इस्लाम की मुख़ालिफ़ दुनिया को हैरत में डालने के लिए यह जुमले काफ़ी हैं कि हमें तारीख़े इस्लाम में कोई ऐसी मिसाल नहीं मिलती कि इस्लामी अदालत ने बुरे काम और ज़िना के इल्ज़ाम में किसी को सज़ा दी हो, क्योंकि इस घिनावने जुर्म को साबित करने के लिए शरीअत ने ऐसी सख़्त शर्तें रख दी हैं कि इस जुर्म का साबित होना अमली तौर से बिल्कुल नामुमकिन हो गया है। एक शर्त यह है कि पाकदामनी के ख़िलाफ़ काम को चार गवाहों ने सारी शर्तों के साथ अपनी आँखों से देखा हो। इस्लामी तारीख़ में इसकी पहली मिसाल ख़ालिद बिन वलीद की है कि जिन पर इल्ज़ाम था कि उन्होंने रसूल[स०] के एक सहाबी मालिक बिन नुवैरा की बीवी के साथ पाकदामनी के ख़िलाफ़ अमल अंजाम दिया है। तीन गवाहों ने तो शर्तों के हिसाब से गवाही दे दी, मगर चौथे गवाह की गवाही में हल्की सी (Technical) कमी रह गई थी, इसलिए ख़ालिद बिन वलीद इस्लामी सज़ा से बच गये। एक शर्त यह भी है कि चारो गवाह एक ही बैठक में एक साथ आकर गवाही दें। अगर अलग-अलग आकर गवाही दी तो वह क़ुबूल नहीं की जायेगी। हज़रत अली[अ०] के ज़माने का वाक़िआ है कि एक शख़्स को बुरा काम करते हुए चार लोगों ने देखा था। हज़रत अली[अ०] की अदालत में तीन लोग एक साथ आए कि हम गवाह हैं। आपने पूछा चौथा गवाह कहाँ है? उन लोगों ने जवाब दिया कि वह बस पहुँचने ही वाला है। मौला ने फ़रमाया इस वक़्त तुम तीन ही हो, इसलिए तुम्हारी गवाही रद्द की जाती है और हुक्म दिया कि झूठी गवाही के जुर्म में इन्हें कोड़े लगाए जाएं। उसी वक़्त चौथा शख़्स अदालत में यह कहता हुआ दाख़िल हुआ कि मैं चौथा गवाह आ गया। हज़रत[अ०] ने फ़रमाया, अब तुम अकेले गवाह हो और हुक्म दिया कि इसके भी कोड़े लगाए जाएं।

जुर्म के साबित होने का दूसरा इस्लामी तरीक़ा ख़ुद जुर्म का इक़रार है। दुनियावी अदालतों में तो सिर्फ़ एक बार जुर्म का इक़रार काफ़ी है, मगर इस्लामी शरीअत ने इसके लिए भी बहुत सख़्त शर्तें रख दी हैं। इसकी एक शर्त यह है कि यह इक़रार चार बार हो और हर इक़रार अलग-अलग बैठक में हो, अगर एक ही बैठक में चार बार इक़रार किया तो वह एक ही इक़रार गिना जायेगा। इसी तरह अगर मुजरिम शरई हाकिम के सामने अपने जुर्म का इक़रार करते हुए तौबा करे और शर्मिन्दा हो तो शरई हाकिम को माफ़ करने और सज़ा देने का पूरा इख़्तियार होगा। इसकी मिसाल हज़रत अली[अ०] के ज़माने में मिलती है। हज़रत अली[अ०] की अदालत में एक औरत आई और इक़रार किया कि मुझ से पाकदामनी के ख़िलाफ़ काम हो गया है, इसलिए मुझे सज़ा दी जाए ताकि मैं आख़िरत की हमेशा की सज़ा से बच जाऊँ। वह औरत हामला भी थी। मौला ने फ़रमाया, बच्चे की पैदाइश के बाद आना। वह औरत बच्चे की पैदाइश के बाद इस तरह आई कि नाजायज़ बच्चा गोद में था। आपने फ़रमाया, तेरा बच्चा तेरे दूध का मोहताज है जब दूध पिलाने का ज़माना ख़त्म हो जाए तब आना। वह औरत दो साल बाद आई कि ऐ अली[अ०] मुझे सज़ा दीजिये। हज़रत[अ०] ने उस से कुछ शरई सवाल पूछे, उसके बाद फ़रमाया कि तेरे बच्चे को तेरी ज़रूरत है। इसलिए जब तेरा बच्चा इतना बड़ा हो जाए कि अपनी हिफ़ाज़त के लायक़ हो जाए तब आना। वह औरत इस तरह से वापस हुई कि आँसू जारी थे। (वसाएलुश्शीआ, जिल्द-18 पेज-378)। अब कहाँ गये वह इल्ज़ाम कि इस्लाम में जानवरों वाली सज़ाएं हैं जो इंसानी हुक़ूक़ के ख़िलाफ़ हैं। अब इस से बढ़कर रहम और कहाँ दिखाई दे सकता है कि जिसका सुबूत इन तारीख़ी वाक़िआत से मिलता है।

(बशुक्रिया रोज़नामा राष्ट्रीय सहारा (उर्दू), 10 फ़रवरी 2012[ई०])

(जारी)